अनुवादक : डॉ। आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

दस्त-ए-ज़ुलेख़ा[1]

(प्रस्तावना)

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

अंग्रेज़ी के महान लेखक डॉक्टर सैमुएल जॉनसन का यह कथन दिल की स्याही से लिखने योग्य है कि जो व्यक्ति रुपये के लालच के अलावा किसी और भावना के तहत किताब लिखता है, उससे बड़ा मूर्ख धरती पर कोई नहीं। हम भी इस सिद्धांत से शब्दशः सहमत हैं, बशर्तेकि किताब से तात्पर्य वही है जो हम समझे हैं, यानी चेक-बुक या रोकड़-बही। प्रस्तावना में यह स्पष्टीकरण अत्यंत आवश्यक है कि यह किताब किस माली या इल्हामी दबाव से निढाल होकर लिखी गयी। चुनांचे जो लिखारी ज़हीन हैं, वे मुश्क की तरह खुद बोलते हैं। जो ज़रा ज़्यादा ज़हीन हैं, वे अपने कन्धों पर दूसरों से बंदूक़ चलवाते हैं। स्वयं प्रस्तावना लिखने में वही सुविधा और लाभ निहित हैं, जो आत्महत्या में होते हैं। यानी मृत्यु की तिथि, हत्या का हथियार और दुर्घटना-स्थल का चयन संबद्ध व्यक्ति स्वयं करता है। और पाकिस्तानी दंड संहिता में यह एकमात्र अपराध है, जिसकी सज़ा सिर्फ़ इस स्थिति में मिलती है कि मुल्ज़िम जुर्म अंजाम देने में कामयाब न हो। 1961 में पहली नाकाम कोशिश के बाद अल्लाह का शुक्र है कि हमें एक बार फिर यह अपने हाथ से लिखने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है।

यह किताब 'चिराग़ तले' के पूरे आठ साल बाद प्रकाशित हो रही है। जिन क़द्रदानों को हमारी पहली किताब में ताज़गी, ज़िन्दादिली और किशोरावस्था का अक्स नज़र आया, संभव है उनको दूसरी में अधेड़ावस्था के आसार दिखलाई दें। इसकी वजह हमें तो यही मालूम होती है कि उनकी उम्र में आठ साल का इज़ाफ़ा हो चुका है।

इंसान को विनोदप्रिय जानवर कहा गया है। लेकिन यह जानवरों के साथ बड़ा अन्याय है, इसलिए कि देखा जाए तो इंसान एकमात्र जानवर है जो मुसीबत पड़ने से पहले मायूस हो जाता है। इंसान एकमात्र जानदार है, जिसे सृष्टा ने अपने हाल पर रोने के लिए विलाप-ग्रंथियाँ प्रदान की हैं। अधिक प्रयोग से ये बढ़ जाएँ

---

[1] दस्त-ए-ज़ुलेख़ाः ज़ुलेख़ा का हाथ। यह हाथ गुस्ताख़ भी है और सपनों को छूने का साहस भी रखता है। इस्लामी देवमाला के अनुसार ज़ुलेख़ा मिस्र में फ़िरौन के एक गवर्नर की पत्नी थी, जो अपने ग़ुलाम और अल्लाह के पैग़म्बर हज़रत यूसुफ़ पर आशिक़ हो गई थी। एक बार अपने कमरे में बुलाकर उनसे प्रेम सम्बन्ध स्थापित करना चाहा तो हज़रत यूसुफ़ वहाँ से भागे। ज़ुलेख़ा पीछे दौड़ी और उनके कुर्ते का दामन पकड़ा तो दामन फट गया। (अनु.)

तो संवेदनशील व्यंग्यकार दुनिया से यूँ ख़फ़ा हो जाते हैं जैसे पिछले ज़माने में मालिक नमक-हराम लौंडियों से रुठ जाया करते थे। दूसरों की लड़खड़ाहट पर उन्हें हँसी के बजाए क्रोध आ जाता है। बुद्धिमान लोगों का एक वर्ग वह भी है जो मूर्खों का अस्तित्व सिरे से बर्दाश्त ही नहीं कर सकता। लेकिन जैसा कि मार्की-द-साद (Marcos De Sade) ने कहा था, वे यह भूल जाते हैं कि सभी मनुष्य मूर्ख होते हैं। महोदय ने तो यह मशवरा भी दिया है कि अगर तुम वाक़ई किसी मूर्ख की सूरत नहीं देखना चाहते तो ख़ुद को अपने कमरे में ताला लगाकर बंद करलो और आईना तोड़कर फेंक दो।

लेकिन हास्य-लेखक के लिए नाराज़गी, नसीहत और निंदा हराम है। वह अपने और कड़वी हक़ीक़तों के बीच क़हक़हों की एक आदम-क़द दीवार खड़ी कर लेता है। वह अपना हँसता हुआ मुखड़ा, सूरजमुखी फूल की मानिंद, हमेशा प्रकाश के स्रोत की ओर रखता है और जब उसका सूरज डूब जाता है तो अपना रुख़ उस दिशा में कर-लेता है, जिधर से वह फिर उदय होगा।

हमे आफ़ताब बीनम, हमे आफ़ताब गोयम
न शबम, न शब-परस्तम कि हदीस-ए-ख़्वाब गोयम
(सब कुछ सूरज देखूँ, सब कुछ सूरज बोलूँ // न रात हूँ, न रात का पुजारी कि सपने की बात करूँ)

हास्य की इन्द्रिय ही दरअसल इंसान की छठी इन्द्रिय है। यह हो तो इंसान हर मुक़ाम से आसानी से गुज़र जाता है।

बे-नशा किसको ताक़त-ए-आशोब-ए-आगही [1]

यूँ तो हास्य, धर्म और अल्कोहल हर चीज़ में आसानी से घुल जाते हैं, विशेष रूप से उर्दू साहित्य में। लेकिन हास्य के अपने तक़ाज़े, अपनी संस्कृति, अपने शिष्टाचार हैं। पहली शर्त यह कि आक्रोश, खीज और द्वेष दिल में राह न पाए। वर्ना यह बूमरैंग पलटकर ख़ुद शिकारी का काम तमाम कर देता है। मज़ा तो जब है कि आग भी लगे और कोई उंगली न उठा सके कि '*यह धुआँ सा कहाँ से उठता है*?' हास्य-लेखक उस समय तक मंद-मुस्कान का पात्र नहीं, जब तक उसने दुनिया और दुनिया वालों से रज-के[II] प्यार न किया हो। उनसे। उनकी संगदिली और उपेक्षा से। उनके पाप और पवित्रता से। एक पैग़म्बर के दामन पर पड़ने वाला हाथ गुस्ताख़ ज़रूर है, मगर अनुरागी व प्रेमासक्त भी है। यह ज़ुलेखा का हाथ है। सपने को छूकर देखने वाला हाथ।

हवा के हाथ में नर्मी है उनके हाथों की

एक शैलीकार लेखक ने, जो काव्य-मर्मज्ञ होने के अतिरिक्त हमारे पक्षधर भी हैं (*तुझे हम वली समझते जो न सूदख़ोर होता*—— की हद-तक) एक पत्रिका में दबी ज़बान से यह शिकायत की कि हमारा ललित-लेखन वर्तमान समस्याओं के प्रतिबम्ब और राजनीतिक भावना व संवेदनशीलता से रिक्त है। अपनी सफ़ाई में हम

---

[1] बिना नशे के किस में सामर्थ्य है कि बोधजनित दुखों को बर्दाश्त कर पाए? (अनु.)

[II] रज के: (पंजाबी) जी भरके। (ले.)

संक्षेप में इतना ही निवेदन करेंगे कि ताने व गाली से यदि दूसरों का सुधार हो जाता तो बारूद ईजाद करने की ज़रुरत पेश न आती। मौलाना रूमी जो संकेतों में सब कुछ कह जाते हैं, एक अंधेरी रात की बात सुनाते हैं। फ़रमाते हैं कि जंगल-बियाबान में एक बच्चा अपनी माँ से चिमटकर कहने लगा कि माँ! अँधेरे में मुझे एक काला देव नज़र आता है और मारे डरके मेरी तो घिग्घी बंध जाती है। माँ ने जवाब दिया, बेटा तू मर्द बच्चा है। ख़ौफ़ को दिल से निकाल दे। अबकी दफ़ा वह जैसे ही दिखाई दे, आगे बढ़के हमला कर देना। वहीं पता चल जाएगा कि हक़ीक़त है या तेरा वहम। बच्चे ने पूछा, माँ! अगर उस काले देव की माँ ने भी उसे यही नसीहत कर रखी हो तो ——?

कुछ इलाज इसका भी ऐ शीशा-गराँ है कि नहीं?

कुछ दिन बाद वह पत्रिका जो बुद्धजीवियों की अगुआ थी और जिसमें प्रस्तुत लेखक की राजनीतिक असंवेदनशीलता व अरुचि का निदान किया गया था, नवाब काला बाग़ के हुक्म से बंद कर दी गई। हमारे क़द्रदान ने एक पी.डबल्यू.डी. के ठेकेदार के यहाँ पब्लिसिटी मैनेजर की हैसियत से नौकरी कर ली। इस फ़क़ीर ने भी स्नेह-हीन मित्रों और अशांत शहर से विदाई ली और बोरिया बधनी बाँध, दाता की नगरी (लाहौर) की राह ली।

ऊ ब-सहरा रफ़्त व मा दर कूचेहा रुसवा शुदीम[1]

'प्रोफ़ेसर', 'बारे आलू का कुछ बयाँ हो जाए' और 'बाइफ़ोकल क्लब' इसी प्रेम-यात्रा की यादगार हैं। पढ़ने वालों को इनका रंग अलग नज़र आए तो यह लाहौर के ज़िन्दा-दिलों की संगत का फल है।

लोग क्यों, कब और कैसे हँसते हैं? जिस दिन इन सवालों का सही-सही जवाब मालूम हो जाएगा, इंसान हँसना छोड़ देगा। रहा यह सवाल कि किस पर हँसते हैं? तो यह सरकार की सहनशक्ति व सहिष्णुता पर निर्भर है। अंग्रेज़ सिर्फ़ उन चीज़ों पर हँसते हैं, जो उनकी समझ में नहीं आतीं----पंच के चुटकले, मौसम, औरत, अमूर्त-कला। इसके विपरीत, हमलोग उन चीज़ों पर हँसते हैं, जो अब हमारी समझ में आ गयी हैं। मसलन अंग्रेज़, इश्क़िया शायरी, रूपया कमाने के उपाय, मौलिक लोकतंत्र।

फ़क़ीर की गाली, औरत के थप्पड़ और मसख़रे की बात से दुखी या नाराज़ नहीं होना चाहिए। यह निर्णायक कथन हमारा नहीं, मौलाना ऊबैद ज़ाकानी[2] का है।(*अज़ दुश्नाम-ए- गदायाँ व सैली-ए-ज़नाँ व ज़बान-ए-शायराँ व मसख़रगाँ मरंजीद*) हास्य-लेखक इस लिहाज़ से भी फ़ायदे में रहता है कि उसकी गंभीर-से-गंभीर ग़लती के बारे में भी पढ़ने वाले को यह अंदेशा लगा रहता है कि मुमकिन है, इसमें भी मज़ाक़ या मनोरंजन का कोई सूक्ष्म पहलू पोशीदा हो, जो शायद मौसम की ख़राबी के सबब उसकी समझ में नहीं आ रहा। इस मौलिक अधिकार से हाथ खींचे बिना, यह स्वीकार कर लेने में बिल्कुल हर्ज नहीं कि हम भाषा और व्याकरण की पाबंदी

---

[1] *मा व मजनूँ हमसबक़ बूदीम दर दीवान-ए-इश्क़ // ऊ ब-सहरा रफ़्त व मा दर कूचेहा रुसवा शुदीम* अर्थात मजनूँ और हम इश्क़ के सबक़ में सहपाठी थे। लेकिन वह रेगिस्तान को गया और हम गलियों-गलियों में बेईज़्ज़त हो रहे हैं। (अनु.)

[2] मौलाना ओबैद ज़ाकानी: (1300-1371 AD) फ़ारसी के शायर। व्यंग्य और अश्लील शेरों के लिए मशहूर थे। पैदाइश कज़वीन में, शिक्षा शीराज़ में। शाह अबू इसहाक़ के दरबारी शायर, हाफ़िज़ शीराज़ी के समकालीन कवि। (अनु.)

को व्यर्थ का प्रयास नहीं मानते। अपनी अयोग्यता स्वीकार करना इसलिए और भी आवश्यक है कि आजकल कुछ लिखारी बड़े प्रयास व परिश्रम से ग़लत भाषा लिख रहे है। हाँ, कभी-कभार बेध्यानी या सिर्फ़ आलस्य में सही भाषा लिख जाएँ तो और बात है। भूल-चूक किससे नहीं होती?

परम आदरणीय व माननीय जनाब शानुल-हक़-हक़्क़ी साहब ने जिस ध्यान और प्रेम से इस संग्रह के पाँच लेखों का अध्ययन फ़रमाया उसके लिए यह लेखक अत्यंत कृतज्ञ है। उन्होंने न सिर्फ़ मुफ़ीद मशवरों से नवाज़ा, बल्कि यह कहकर लेखक का दिल बढ़ाया कि आप कहीं-कहीं घिसे-पिटे मुहावरे प्रयोग कर जाते हैं, मगर आपका इमला बेहद "ओरिजिनल" है। चुनांचे कई शब्दों का इमला हमने उन्ही से सीखा। मसलन यह उन्ही से मालूम हुआ कि "तोता" का सही इमला 'ते' (ت) अक्षर के बजाय 'तो' (ط) से है! इमला सुधारने के जोश में हम तो 'तवायफ़' को भी 'ते' से लिखने पर तैयार थे, मगर इसमें तोते वाली बात दिल को नहीं लगी। इसलिए कि 'तोते' को अगर 'तो' से लिखा जाए तो न सिर्फ़ यह कि ज़्यादा हरा मालूम होता है, बल्कि 'तो' ط का दायरा ज़रा ढंग से बनाएँ तो चोंच भी नज़र आने लगती है।

और झूठ क्यों बोलें, तावायफ़ुल-मुलूकी (अराजकता), का सही अर्थ भी हक़्क़ी साहब ही ने बताया वर्ना हम तो कुछ और समझे बैठे थे। अरबी और फ़ारसी में बस इतनी शुद-बुद है कि मैट्रिक तक हम 'ऐज़न'[i](वही) को किसी आशु-शायर का तख़ल्लुस (उपनाम) समझकर हर-हर ग़ज़ल के 'ऐज़न' पर अपना खून खौलाते रहे। अल्लाह उनका भला करे! 'राहज़न' (लुटेरा) के शाब्दिक अर्थ मिर्ज़ा ने उसी ज़माने में 'ज़न-ए-बाज़ारी' (वेश्या) बताए थे! और सच तो यह है कि जबसे इसके सही मतलब मालूम हुए हैं, 'ग़ालिब' और 'आतिश' के मिसरों '*होकर असीर दाबते हैं राहज़न के पाँव*'[ii] और '*हज़ार रहज़न-ए-उम्मीदवार राह में है*' का सारा मज़ा ही जाता रहा! अब कहाँ से लाऊँ वो अज्ञानता के मज़े?

चूँकि हक़्क़ी साहब शोध के मैदान के मर्द हैं, उन्हें प्राचीन शब्दों और घटनाओं के अलावा कोई और बात मुश्किल से याद रहती है। मसलन वे यह फ़ौरन बता देंगे कि अमुक शब्द कब अप्रचलित हुआ। उस्ताद (ग़ालिब) के कलाम में 'आईना' कितनी दफ़ा आया है। 'सितम-पेशा डोमनी'[iii]' ने 'मुग़ल बच्चा' (ग़ालिब) को किस सन में विरह का घाव दिया। 'उस्ताद' के मकान का पता और बक़ाया किराया क्या था। लेकिन अपने मकान का नम्बर बताने के लिए उन्हें बेगम से संदेहों का आदान प्रदान करना पड़ता है। वे खुद भी अपनी ग़ैर-हाज़िर दिमाग़ी के चुटकलों, को सिक्खों के समझकर, खूब मज़ा लेते हैं। एक दिन The Absent-Minded Professor

---

[i] फ़ुनोट में पुस्तक या लेखक को उद्धृत करते समय यदि पहले उद्धरण के तुरंत बाद वही उद्धरण फिर आता है तो हम दुबारा सम्पूर्ण उद्धरण लिखने के बजाय उसके नीचे उर्दू में "ऐज़न' और हिन्दी में 'वही' लिखते हैं। (अनु.)

[ii] राहज़न या रहज़न अर्थात डाकू या लुटेरा। इनके संधि विच्छेद करने पर दो शब्द 'राह/रह' (रास्ता) और 'ज़न' (स्त्री) प्राप्त होते हैं। लेखक पहले इसका मतलब 'राह में या चलते-फिरते उपलब्ध हो जाने वाली स्त्री (वेश्या) समझता था। (अनु.)

[iii] सितम-पेशा डोमनी: मिर्ज़ा 'ग़ालिब' के बारे में कहा जाता है कि वे एक सितम-पेशा (निर्दयी) डोमनी से प्रेम करते थे। इस विचार का आधार ग़ालिब का एक पत्र है जिसमें वे लिखते हैं :" मुग़ल बच्चे भी ग़ज़ब होते हैं, जिसपर मरते हैं उसको मार रखते हैं। मैं भी मुग़ल बच्चा हूँ । उम्र भर में एक बड़ी सितम पेशा डोमनी को मैंने भी मार रखा था"। (अनु.)

फ़िल्म की अग्रिम बुकिंग के 'क्यू' में मुलाक़ात हो गयी। थोड़ी देर बाद हम दोनों क्यू से इस पर बहस करते हुए गुत्थम-गुत्था निकले, बल्कि निकाले गए, कि सही लफ़्ज़ 'क़मीज़' है या 'क़मीस'। मिर्ज़ा से संपर्क किया तो फ़रमाया, सही पहनावा बुशर्ट है! बाहर निकले तो हमने अपनी कार का दरवाज़ा खोला और हक़्क़ी साहब शुक्रिया करते हुए दाख़िल हो गए। दाख़िल ही नहीं हुए बल्कि स्टीयरिंग व्हील सँभाल लिया। अपने जेब की अंदरूनी और बाहरी जेबों को खंगालने के बाद हाथ की इत्तिफ़ाक़ी रगड़ से हमारी पतलून की जेब को भी टटोल लिया। आख़िरकार अपने / अपनी क़मीज़/क़मीस की जेब से एक चाबी बरामद की। पूरा ज़ोर लगाने के बावजूद यह चाबी न लगी तो फ़रमाया इस कमबख़्त ड्राइवर को हज़ार बार कह चुका हूँ कि किसी और वर्कशॉप में सर्विसिंग कराये। जब भी सर्विस होती है एक नई ख़राबी पैदा हो जाती है। हमने हिम्मत करके निवेदन किया, क़ुसूर दरसल हमारी कार के सूराख़ का है, जो आपकी चाबी में फ़िट नहीं हो रहा। चमककर बोले, हाँ! क़ुसूर पर ख़ूब याद आया! आपने एक जगह 'फ़ोतीदगी' (मृत्यु) लिखा है। यह मारवाड़ियों जैसी उर्दू आपने कहाँ से सीखी? निवेदन किया, मारवाड़ में जहाँ हम पैदा हुए। हमें कार से उतारकर फ़ुटपाथ पर गले लगाते हुए बोले, तो यानी उर्दू आपकी मादरी ज़बान (मातृभाषा) नहीं है! हालाँकि आपकी अहलिया(बीवी) तो अहल-ए-ज़बान (मातृभाषी) हैं!

ख़ुदा उन्हें ख़ुश रखे कि उन्होंने हमारी उर्दू की नोक-पलक सँवारने में हमारी बेगम का हाथ बटाया है।

26 सी 3. गुलबर्ग 3. लाहौर
24 अक्तूबर 1969
मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

पुनश्च, रस्म-ए-दुनिया, मौक़ा और दस्तूर नहीं, लेकिन यह विषयांतर आ पड़ा है कि जमील अहमद क़ुरैशी ख़ुशनवीस (सुलेखक) का ऋण चुकाना आवश्यक हो गया। चार साल पहले इस किताब की किताबत के दौरान उन्होंने हाशिए पर पेन्सिल से जगह-जगह 'ख़त-ए-शिकस्ता' लिपि में अपनी निजी राय से अवगत कराया (अंत में तो ओछे चिन्हों पर उतर आए थेः (!√X?!!) और नक़ल के साथ-साथ कुफ़्र की निशानदेही भी करते रहे। मसलन एक लेख में अपने शिकार के सिलसिले में 'ढिल्लम बिलग्गन' का रेखाचित्र बनाया था। उन्होंने पांडुलिपि पर क़लम फेरते हुए हाशिये पर लिखा "मगर यह तो मेरा पैत्रिक गाँव है।" और उसकी जगह ख़ुद से 'टोबा टेक सिंह' जड़ दिया, जहाँ शायद उनकी ससुराल है। एक जगह हमने लिखा था कि एक खेल (Farce) में सम्राट अकबर ने अनारकली के सुन्दर मुखड़े पर इस अंदाज़ से तमाचा मारा कि हमें तो दूर से यही लगा कि महाबली पाँच मिनट तक अनारकली के गाल सहलाते रहे। जमील साहब ने अनमने मन से किताबत तो करदी लेकिन "पाँच मिनट" के गिर्द पेन्सिल से दायरा खींचकर हाशिए पर इसे अश्लील क़रार दिया। इस आपत्ति के पेशेनज़र हमने पाँच मिनट के बजाय दो मिनट कर दिया है।

1965 की किताबत में कुछ हिस्से, किताबत के लिहाज़ से काफ़ी कमज़ोर थे। उन्हें हमने निकाल दिया। फिर जमील साहब ने चुन-चुनकर वो पृष्ठ अलग किये जो उनके नज़दीक ललित-लेखन के लिहाज़ से काफ़ी कमज़ोर थे। जब दोनों चरण कुशल-मंगल से अंजाम को पहुँचे तो पता चला किताब में कुछ शेष न रहा, सिवाय प्रस्तावना के! वह भी इसलिए कि यह अभी लिखी नहीं गई थी।

चुनांचे जिगर के टुकड़ों को फिर से जमा किया। जून 1969 में सारी किताब की दूसरी बार काफ़ी महँगी किताबत शुरू हुई।

मेरे मुँह में ख़ाक